एम. एन. राय

विज्ञान की कसौटी पर दर्शन, संस्कृति और धर्म

अनु० एस० एन० मुन्शी

एम. एन. राय

विज्ञान की कसौटी पर दर्शन, संस्कृति और धर्म

अनु० एस० एन० मुन्शी

मनस्वी पुस्तकालय
सी–८६१, महानगर, लखनऊ–२२६००६

दर्शन की मुक्ति

आम तौर से पढ़े-लिखे लोगों में 'दर्शन' शब्द के बड़े गोलमोल अर्थ लगाये जाते हैं । इसका अर्थ केवल काल्पनिक चिंतन ही नहीं लगाया जाता, बल्कि काव्य-भावना भी दर्शन का विषय मानी जाती है । भारत में दर्शन धर्म (मोक्ष अथवा पारलौकिक–रिलिजन) तथा ईश्वर-मीमांसा या धर्म-शास्त्र (थिओलॉजी) से भिन्न नहीं समझा जाता । वास्तविकता तो यह है कि जिसे भारतीय दर्शन की विशेषता कहा जाता है, वह यह है कि दर्शन ने मध्यकालीन परम्परा से अपना सम्बन्ध विच्छेद नहीं किया है, जैसा कि आधुनिक पाश्चात्य (यूरोपीय) दर्शन ने १७वीं शताब्दी में ही कर लिया था ।

आस्था-निष्ठा पर आधारित दार्शनिक सिद्धांत स्वयं अपनी अदार्शनिक प्रकृति के कारण वैज्ञानिक ज्ञान के मापदण्ड से नहीं आंके जा सकते हैं । वास्तव में स्वयं इन सिद्धांतों का ही यह दावा होता है कि वैज्ञानिक ज्ञान के मापदण्ड उन पर लागू नहीं किये जा सकते । अतः इनकी परीक्षा न्याय-शास्त्र के नियमों के अनुसार होनी चाहिए । आस्था-निष्ठा का भी एक न्याय होता है और धार्मिक दर्शन के आलोचक की ज़िम्मेदारी होती है कि उस न्याय में हेत्वाभास अर्थात् तर्कदोष दिखलाये ।

ईश्वर-विश्वास और विज्ञान

उदाहरण के लिए ईश्वर के विचार को ही लीजिए । यह विचार इस विश्वास का परिणाम है कि यह विश्व कभी न कभी, किसी एक समय पर बना होगा और बिना किसी बनाने वाले अर्थात् रचयिता के कोई रचना सम्भव नहीं है । भौतिक विज्ञान की खोजों ने सृष्टि के इस भ्रामक सिद्धांत

को काट दिया है और इसके फलस्वरूप व्यक्ति, शक्ति अथवा धारणा, किसी भी रूप में ईश्वर को अमान्य बना दिया है। लेकिन जो निष्ठावान विश्वासी है, वह विज्ञान के प्रमाणों तथा प्राकृत दर्शन के तर्कों की उपेक्षा कर सकता है। अतः हमें उसका सामना उसी के अखाड़े में करना होगा; अर्थात् हमें उसके विश्वासों के न्यायोपक्रम में ही दोष अथवा हेत्वाभास प्रदर्शित करना होगा।

ईश्वर-विश्वास का एक बौद्धिक आधार है। प्रत्येक वस्तु तथा घटना का कारण ढूंढने के लिए आदिम मानव ने जो प्रयत्न किये थे, उन प्रयत्नों के परिणामस्वरूप ही ईश्वर के विचार का उदय हुआ था। ईश्वर को समस्त विश्व का कारण मान लिया गया। अब अगर प्रत्येक वस्तु का कोई न कोई कारण होना ही चाहिए, तो यह पूछना भी पूर्णतया न्यायसंगत है कि आखिर ईश्वर को किसने बनाया? आम तौर पर धर्म द्वारा जो यह उत्तर दिया जाता है कि ईश्वर नित्य है, अनादि-अनन्त है, इससे उत्तर पूरा नहीं होता है। एक बार यदि यह मान लिया गया कि ऐसी भी कोई चीज हो सकती है, जो स्वयंभू है, जिसका कारण कोई अन्य चीज नहीं है, और उसका कारण स्वयं उसके अस्तित्व में स्वभावतः ही है, अथवा उसी का एक गुण है––जैसाकि ईश्वर को बिल्कुल अन्तिम या मूल (फ़ाइनल) कारण मान कर किया जाता है––तो फिर इस मत के विरुद्ध भी कोई न्यायसंगत आपत्ति नहीं की जा सकती है कि विश्व स्वयंभू है, इसकी कभी एकदम सृष्टि नहीं की गयी और यह नित्य एवं अनादि-अनन्त है। प्राकृतिक घटनाओं के कारणों की स्वयं प्रकृति में ही खोज करके विज्ञान ने धीरे-धीरे इस न्यायसंगत तथा बुद्धिसगत मत को मजबूत कर दिया है। अतः ईश्वर-बिश्वास को खत्म करने अर्थात् काट के बीज स्वयं उसी के न्यायशास्त्रीय आधार में निहित है।

दर्शन और रूढ़िवादी धर्मान्धता

हमारा उद्देश्य किसी दर्शन विशेष की आलोचना करना नहीं है। हमारा उद्देश्य तो आधुनिक विज्ञान की सिद्ध और प्रमाणित धारणाओं से

दार्शनिक निष्कर्ष निकालना होना चाहिए। यदि इनसे यह पता चले कि आधुनिक वैज्ञानिक खोजें प्रकृति के एक रहस्यवादी तथा अध्यात्मवादी दृष्टिकोण के लिए संकेत नहीं करती हैं, तो फिर धार्मिक दशन को छोड़ देना आवश्यक हो जायेगा, क्योंकि इसके प्रवर्तक लोग चाहे यहां तक जाने को तैयार न हों, लेकिन आम तौर पर आजकल के नव-अध्यात्मवाद (नियो-स्प्रिचुअलिज्म) को धार्मिक दर्शन की पुष्टि तथा पुर्नसिद्धि समझा जाता है।

किसी पराभौतिक, प्रकृतिपारीण अथवा पारलौकिक शक्ति में विश्वास करके सिर्फ़ प्रकृति के भीतर ही प्राकृतिक चीजों तथा घटनाओं के कारणों की खोज नहीं की जा सकती है। इसलिए दर्शन के लिए रूढ़िवादी धार्मिक विचारों तथा ईश्वर-मीमांसा के मूढ़ाग्रहों को अस्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है। १७वीं और १८वीं शताब्दियों में प्राकृतिक विज्ञान की प्रगति ने आधुनिक पाश्चात्य दर्शन को इस योग्य कर दिया कि वह धर्म की अंधविश्वासजन्य रूढ़ियों को अस्वीकार कर दे और ईश्वर-मीमांसा के मूढ़ाग्रहों के नियंत्रण से मुक्त हो जाय। यदि यह कहा जाता है कि आधुनिक, मुख्यतः भौतिकी से सम्बन्धित, वैज्ञानिक खोजों से विश्व का रहस्यवादी-अध्यात्मवादी होना सिद्ध होता है, तो इसका यह अर्थ होगा कि धर्म के विरुद्ध ऐतिहासिक संघर्ष में विज्ञान पराजित हो गया।

चूंकि प्रत्ययवाद (आइडियलिज्म) को अब उसके पुराने मूल शास्त्रीय रूप में पुनः प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता है, इसलिए नव-अध्यात्मवादी लोग उसकी पैरवी तो नहीं करते हैं, लेकिन उनका दृष्टिकोण रहस्यवादी (मिस्टिक) अवश्य होता है। उनका कहना है कि प्रकृति की बिल्कुल तह तक नहीं जाया जा सकता। यह जानना कि यह भौतिक जगत वास्तव में क्या है, असम्भव है। मूल वास्तविकता अर्थात् चरम तत्व (अल्टीमेट रियलिटी) का स्वरूप तथा स्वभाव क्या है, यह मालूम करना हमारी ज्ञान-शक्ति के बाहर है। इस सब का क्या अर्थ हुआ? इसका अर्थ यह हुआ कि आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान ने हमें इसके लिए मजबूर कर दिया है कि हम फिर से इस प्रकृति से परे की किसी अज्ञात शक्ति में विश्वास करने लग जायें।

पुराना शास्त्रीय प्रत्ययवाद भी शायद इतनी दूर तक जाने के लिए न कहे, क्योंकि वह बुद्धिवाद पर आधारित है और ईश्वर-मीमांसा के मूढ़ाग्रहों और धार्मिक अन्धविश्वासों के विरुद्ध विद्रोह के फलस्वरूप उसका उदय हुआ था। अपनी भूमिका निभाने और ऐतिहासिक उत्तरदायित्व पूरा करने के लिए दर्शन को धर्म से सम्बन्ध-विच्छेद करके इस भौतिक जगत की वास्तविकता से ही अपना कार्य आरम्भ करना और शनैः शनैः भौतिकवाद की ओर बढ़ना होगा। विश्व के विषय में रहस्यवादी दृष्टिकोण रखना दर्शन के लिए घातक तथा उसकी प्रगति के मार्ग का रोड़ा है; यह दर्शन को खत्म करके उसकी जगह अन्धविश्वास तथा अन्धनिष्ठा को ही पुनः प्रतिष्ठित कर देगा।

यदि वैज्ञानिक अध्ययन-अनुसंधान हमें वास्तव में मजबूर करते हैं कि हम विश्व के बारे में रहस्यवादी दृष्टिकोण अपनायें, तब तो दर्शन को अपने पुराने काम पर ही लौट जाना चाहिए, अर्थात् भौतिक दृश्यों की तह में छिपे हुए आध्यात्मिक महातत्व की वास्तबिकता की परिकल्पना (हाइपोथीसिस) के विषय में, एक महान विश्व-आत्मा तथा अन्य तमाम (एक-एक) आत्माओं के बीच के परस्पर-सम्बन्धों और इसी प्रकार की अन्य ऐसी समस्याओं के विषय में निरा मीमांसात्मक चिंतन किया करें जिन्हें मनुष्य कभी भी हल न कर सके, क्योंकि वे स्वयं अपने ही भौतिक अस्तित्व के कारण सीमित हैं। ऐसी स्थिति में मानवीय अस्तित्व का आदर्श तथा लक्ष्य फिर वही असम्भव अथवा असाध्य का सम्पादन, हो जायेगा––ससीम द्वारा असीम की सिद्धि अथवा उपलब्धि। यदि यह सच है कि कुछ (अज्ञात् ही नहीं) अज्ञेय कारणों की कल्पना किये बिना विज्ञान प्रकृति की विभिन्न स्थितियों-घटनाओं की स्पष्ट व्याख्या नहीं कर सकता है, तब तो दर्शन को फिर से उन्हीं समस्याओं के निरर्थक चिंतन के दलदल में फँस जाना पड़ेगा, जिनका स्वयं अपनी ही प्रकृति के कारण, समाधान हो ही नहीं सकता। अर्थात् प्रकृति से परे, प्रकृतिपारीण शक्तियों पर विश्वास पुनरुज्जीवित करना होगा; और तब धर्म सर्वोच्च सत्ता के अपने पुराने स्थान पर पुनः

स्थापित हो जायेगा, प्रकृतिपारीणता के मूर्तरूप में ईश्वर के स्वभाव एवं चरित्र के विषय में निरा चिंतन करना ही सर्वोच्च बौद्धिक काम होगा।

लेकिन, इसके विपरीत, यदि यह मालूम हो कि आजकल का यह नव-अध्यात्मवाद आधुनिक वैज्ञानिक खोजों का अनिवार्य परिणाम नहीं है, तो यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि धर्म और विज्ञान के ऐतिहासिक संघर्ष में विज्ञान की जीत हुई है। धर्म तथा विज्ञान, अन्धविश्वास तथा विवेक और आस्था-निष्ठा तथा ज्ञान के बीच का ऐतिहासिक संघर्ष अभी उन देशों में लड़ा जाना शेष है जहां अभी तक नहीं लड़ा गया है।

दर्शन : जीवन का सिद्धान्त

दर्शन की परिभाषा करना ही उसकी मौलिक समस्या है। उसकी परिभाषा यह की जा सकती है कि दर्शन जीवन का सिद्धांत है। इस परिभाषा को हम दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि दर्शन का काम है जगत की पहेली सुलझाना। दर्शन एक जीवन-सिद्धांत इसलिए है क्योंकि उसका उदय मनुष्य के उन प्रयत्नों के दौरान हुआ, जिनकी सहायता से उसने प्रकृति का अर्थबोध किया और अपने तथा अपने वातावरण के बीच का सम्बन्ध समझा, अपने पिछले अनुभवों को दृष्टि में रखकर जीवन की वास्तविक समस्याओं को हल किया, ताकि इनके समाधान से उसे अपने भविष्य के गर्भ में झांकने के लिए साहस मिले। इन प्रयत्नों का आरम्भ उसी समय हुआ, जिस समय से मनुष्य ने सोचना शुरू किया। धीरे-धीरे शारीरिक आवश्यकताओं ने उसके सामने प्राकृतिक वातावरण अर्थात् घटनाओं-स्थितियों के कारण जानने की आवश्यकता उपस्थित कर दी, ताकि वह उन्हें समझे और धीरे-धीरे उन पर नियंत्रण प्राप्त करे। जीवन स्वयं इस ब्रह्माण्ड, इस सम्पूर्ण जगत के विकास का ही परिणाम है। अतः जीवन का एक व्यापक सिद्धांत—अर्थात् मनुष्य के रूप तथा रूपान्तरण, भाव तथा भाव्यमान (बींग ऐण्ड बिकमिंग) की एक न्यायसंगत व्याख्या, उसकी वर्तमान सत्ता और भावी दिशा-संकेत आदि––तभी निरूपित अथवा

सूत्रबद्ध किया जा सकता है जब सम्पूर्ण ब्रह्माण्डीय रचना तथा योजना को अच्छी तरह समझ लिया जाय। इसलिए प्रकृति तथा जीवन के समस्त अंगों को अपने में सम्मिलित करने वाला व्यापक दर्शन वही हो सकता है, जो विश्व-प्रक्रिया (कॉस्मोलॉजी) पर आधारित हो।

विश्वास, निष्ठा और विवेक

दर्शन धर्म से पुराना है। यह उतना ही पुराना है, जितना स्वयं मानव। मनुष्य के बौद्धिक विकास की प्रक्रिया में निष्ठा या विश्वास की अपेक्षा विवेक का उदय पहले हुआ। उसकी मूल प्रवृत्तियां (इन्सटिन्क्ट्स) इसी विवेक का आदिम रूप हैं। बौद्धिक विकास के क्रम में आगे चलकर काफी बाद तक ये मूल प्रवृत्तियां विवेक के स्वचलित शारीरिक व्यवहार का रूप लिये रहीं। यहां पर हमें यह न भूलना चाहिए कि विवेक स्वयं उन्नत तथा विकसित अर्थात् मानवीय शरीर का एक जैविक गुणधर्म(बॉयोलॉजिकल प्रापर्टी) होता है। यह गुणधर्म कुछ विकसित पशुओं में भी प्रारम्भिक अर्थात् आद्यांगिक रूप में मिल सकता है।

इसमें कोई शक नहीं कि पशु-मनोविज्ञान के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अभी बहुत कम है। फिर भी जितनी थोड़ी-बहुत जानकारी है, उससे जो तथ्य मिले हैं, उनसे यह संकेत अवश्य मिलता है कि उच्चतर अवस्था वाले पशुओं की मनःस्थिति में भी विश्वास, आस्था या निष्ठा जैसी कोई चीज़ नहीं होती है, यद्यपि बुद्धि और संवेग (इमोशन) उनमें अवश्य पाये जाते हैं। आंगिक अथवा ऐन्द्रिक (आर्गनिक) विकास-क्रम में कुछ और आगे चलकर अर्थात् आदिम मानव में भी हमें निष्ठा या विश्वास का अभाव ही मिलता है। प्रचलित धारणा के विरुद्ध, ईश्वर और आत्मा में विश्वास मनुष्य की चेतना में जन्मजात नहीं होती। प्रकृति से परे पर विश्वास करना मानव-स्वभाव या मानव प्रकृति में नहीं है। मानव-शास्त्र (ऐन्थ्रोपॉलोजी) द्वारा अर्जित ज्ञान ने आम लोगों में प्रचलित धारणा को झुठला दिया है। आदिम जातियों में ईश्वर तथा धर्म के विचारों का अभाव मिलता है।

सबसे प्राचीन धर्म अर्थात् सर्वसजीववाद (एनिमिज्म) से भी पहले लोग जादू-टोना में विश्वास करते थे और इसका अर्थ प्रकृति से परे पर विश्वास करना नहीं था। यह कोई चमत्कार भी नहीं था। जादू में विश्वास करना नियतिवाद (डिटरमिनिज्म) का सबसे आदिम रूप है। प्रकृति की सबसे मोटी बुद्धि वाली धारणा यह है कि यह एक नियमबद्ध व्यवस्था है जिसमें प्रत्येक घटना के कुछ कारण होते हैं और प्रत्येक कारण के कुछ परिणाम। मनुष्य के विवेक की मूल प्रवृत्ति ने जादू अर्थात् नियतिवाद के मोटे रूप में व्यक्त होकर मनुष्य को इस नतीजे पर पहुंचाया कि वह प्राकृतिक घटनाओं के कारणों की खोज करे। बौद्धिक तथा आध्यात्मिक विकास की आरम्भिक अवस्था में मनुष्य का यह मुख्य सिद्धांत रहा है कि प्रत्येक वस्तु तथा घटना का कोई न कोई कारण होता है। और यही सिद्धान्त तथा विश्वास दर्शन और विज्ञान दोनों का जन्मदाता है।

धर्म, दर्शन और विज्ञान

आधुनिक विज्ञान के विकास के साथ-साथ मनुष्य को प्रकृति के नियमों की भी जानकारी होती गयी। इसके फलस्वरूप दर्शन इस योग्य हो गया है कि इस जगत की स्वयंभू और अपने में पूर्ण व्यवस्था के रूप में व्याख्या कर सके। जगत की पहेली के बोधगम्य समाधान के लिए--अर्थात् प्रकृति की व्यवस्था के अर्थबोध के लिए--अब प्रकृति से परे की शक्तियों की परिकल्पना (हाइपॉथीसिस) की कोई आवश्यकता नहीं रह गयी है।

धर्म तभी तक एक बौद्धिक तथा नैतिक आवश्यकता का रूप लिये रहता है, जब तक उससे किसी दार्शनिक उद्देश्य की पूर्ति होती है। धर्म का दार्शनिक मूल्य उसके विवेकवादी, उसके बुद्धिवादी सार में ही है। प्रकृति से परे में विश्वास करना, बौद्धिक विकास की विकृत अवस्था का एक विशेष लक्षण है। मानवीय बुद्धि को सामान्य विकास के लिए ज्योंही उपयुक्त परिस्थितियां तथा सुविधाएँ मिल जाती हैं, त्योंही वह निष्ठा और विश्वास की विकृत अवस्था को पार कर जाती है। धर्म के बुद्धिवादी सार

का ही यह न्यायसंगत परिणाम होता है कि विज्ञान धर्म को पराजित कर दे। इस संघर्ष में अपनी हार के बाद भी अपना अस्तित्व बनाये रखने अथवा हारी हुई लड़ाई को किसी तरह घिसट-घिसट कर चलाते रहने के लिए धर्म को अपना बुद्धिवादी सार छोड़ देना पड़ता है--अर्थात् आधुनिक विज्ञान के विकास के पश्चात धर्म के अस्तित्व का तमाम दार्शनिक आधार तथा औचित्य समाप्त हो जाता है। जिन असुविधाजनक परिस्थितियों से मजबूर होकर मनुष्य ने प्रकृति से परे में विश्वास किया था, उन्हीं परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर लेने के बाद उसके लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह चिंतन की धार्मिक प्रणाली की सीमाओं को भी पार कर जाय। मनुष्य के आध्यात्मिक विकास की एक अवस्था में यदि चिंतन की धार्मिक प्रणाली एक बौद्धिक तथा नैतिक आवश्यकता, अथवा मजबूरी, होती है--क्योंकि इससे उसकी मौलिक विवेकशीलता की विकृत अभिव्यक्ति होती है—तो उसी विकास की दूसरी अवस्था में उस चिंतन-प्रणाली का अत होना भी उतना ही आवश्यक है।

विज्ञान के हाथों धर्म का पूर्णतः खत्म हो जाना अनिवार्य है, क्योंकि अपनी शैशवावस्था में मानव-जाति को जिन-जिन प्रश्नों का सामना करना पड़ा था और जिनसे विवश होकर उसे प्रकृति से परे की शक्तियों तथा उनके मध्यस्थों की कल्पना करनी पड़ी थी, वैज्ञानिक ज्ञान उसे इस योग्य कर देता है कि वह उन प्रश्नों का सही-सही उत्तर दे सके। उन प्रश्नों के उत्तर में जो कल्पनाएँ की गयीं थीं, यदि उनसे उनका सही-सही उत्तर मिल गया होता, तो धर्म ने विज्ञान के जन्म तथा विकास को रोक दिया होता। लेकिन धर्म ने प्राकृतिक वातावरण तथा घटनाओं की सही-सही व्याख्या नहीं की। उसने सिर्फ़ कुछ नये प्रकार की समस्याएँ अवश्य पैदा कर दीं, जिन्होंने मौलिक समस्याओं को ढँक भर लिया। एक बार जब प्रकृति से परे की शक्तियों की कल्पना में प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या पा ली गयी, तो उसके बाद स्वभावतः मनुष्य का ध्यान उन कल्पित शक्तियों अर्थात् देवी-देवताओं के स्वरूप, व्यवहार तथा आचरण आदि में लग गया। वास्तविक

जीवन की मौलिक समस्याएँ हल नहीं हुईं, न उन्हें समझा गया। उन्हें बिल्कुल छोड़ ही दिया गया, अलग ही कर दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके हल होने की सम्भावना ही जाती रही--अर्थात् समस्याओं का दमन हुआ, हल नहीं, और वे ज्यों की त्यों बनी रहीं। वे समस्याएँ हैं मानवीय अस्तित्व की। धर्म ने सिर्फ़ यही नहीं कि उन्हें हल नहीं किया, बल्कि उनके साथ-साथ आत्मा और ईश्वर आदि के स्वरूप तथा स्वभाव के विषय में काल्पनिक रहस्यों की ओर मनुष्य का ध्यान केन्द्रित करके काफ़ी लम्बे समय के लिए उनके समाधान का मार्ग भी बन्द कर दिया।

आधुनिक विज्ञान का उदय होना मानव-स्वभाव के मौलिक गुण, जिज्ञासा अर्थात जांच-पड़ताल (सर्च या इन्क्वायरी) करने की मनोवृत्ति को पुनः स्थापित करता है। मानवीय अस्तित्व में क्रियाशीलता अन्तर्निहित है। मनुष्य प्रकृति का साधारण और निष्क्रिय मात्र दर्शक नहीं होता है। यहाँ उसका मात्र होना ही उसे उसके भौतिक वातावरण के सम्पर्क में लाता है, कुछ करने के लिए उसे प्रेरित तथा मजबूर करता है और उस वातावरण का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा को उभारता है--अर्थात् इस ज्ञान की आवश्यकता के प्रति उसे सजग करता है। इसमें कोई शक नहीं है कि इस वातावरण का आरम्भिक ज्ञान उसे स्वतः शारीरिक आवश्यकता के रूप में मिलता है। इसीलिए विज्ञान की प्रगति मानवीय विकास के नियमों पर निर्भर रहती है। अतः दर्शन को विज्ञान के निर्णय अनिवार्यतः मान्य होने चाहिए। और जहां तक वह दर्शन का ही एक कच्चा, अपरिष्कृत रूप है, वहां तक धर्म को भी विज्ञान के निर्णय के आगे झुकना चाहिए।

क्यों और कैसे ?

मानव-जाति की आध्यात्मिक प्रगति उसके उन प्रयत्नों के फलस्वरूप हुई है, जो उसने 'क्यों ?' और 'कैसे ?' के उत्तर ढूंढने के लिए किये हैं। आम तौर से यह माना जाता है कि विज्ञान 'कैसे ?' का उत्तर देने में लगा रहता है, जबकि 'क्यों ?' का उत्तर देना दर्शन का काम है। यदि प्रथम प्रश्न

का यह अर्थ है कि विश्व क्यों है, तब तो यह प्रश्न दर्शन का नहीं हो सकता है, क्योंकि जिस रूप में प्रश्न किया गया है, उसमें 'मूल या अन्तिम कारण' (फ़ाइनल काज़) की तलाश है, जिसकी धारणा–मात्र न्यायसंगति की दृष्टि से ग़लत है, उसमें हेत्वाभास है, तर्क-दोष है। 'मूल कारण' की धारणा में नियतिवाद (डिटरमिनिज्म) का विश्वास अन्तर्निहित है। यदि प्रत्येक चीज़ तथा घटना का कोई न कोई कारण होना ही चाहिए, तब तो कार्य-कारण या कारण-परिणाम की श्रृंखला अनन्त होनी चाहिए। वह बीच में कहीं टूट नहीं सकती, भले ही टूटने वाली कड़ी कितनी ही दूर पीछे क्यों न हो। अतः स्वयं अपने ही तर्क से 'मूल कारण' की धारणा खंडित हो जाती है। इसमें विरोधाभास है। 'क्यों ?' के प्रश्न से उलझ कर दर्शन का चरित्र धार्मिक हो जाता है, क्योंकि न्याय (तर्क) की दृष्टि से ग़लत होने पर किसी समस्या का हल सिर्फ़ निष्ठा तथा इच्छित विश्वास के आधार पर ही ढूंढा जा सकता है, जिसमें शोध-अनुसंधान के परिणाम के मिलने की पहले से ही आशा कर ली जाती है।

'क्यों ?' प्रश्न के केवल दो वैकल्पिक उतर हो सकते हैं। विश्व इसलिए है, क्योंकि इसकी सृष्टि ऐसी ही की गयी है; और दूसरे यह कि विश्व इसलिए है क्यों कि बस यह है। ये दोनों ही उत्तर अपूर्ण हैं। पूर्ण होने के लिए पहले उत्तर में किसी (स्वयंसिद्ध) स्रष्टा या सृष्टिकर्ता की अभिधारणा की आवश्यकता है और तब यद्यपि उत्तर पूरा तो हो जायेगा लेकिन पूर्ण निश्चित या अन्तिम नहीं होगा। अगर न्यायसंगति की दृष्टि से विश्व के बारे में 'क्यों ?' का प्रश्न वैध तथा उचित है, तो फिर विश्व-स्रष्टा के बारे में भी वह उतना ही लागू होता है। यहाँ पर एक असावधान जिज्ञासु अनवस्था-दोष (रिग्रेशन ऐड इनफ़िनिटम) के फिसलाऊ मार्ग में फँस जाता है। दूसरे उत्तर का पूर्ण रूप यह होगा : यह विश्व है क्योंकि यह नित्य है, अनादि-अनन्त है। इस उत्तर को प्रामाणिक पुष्टि की आवश्यकता है और इस आवश्यकता की पूर्ति विज्ञान करता है। सृष्टि के सिद्धान्त के लिए विज्ञान में कोई स्थान नहीं मिल सकता। विश्व की नित्यता विज्ञान की इस खोज से

और भी पुष्ट हो जाती है कि इस (विश्व) का भाव तथा संभवन, रूप तथा रूपान्तरण (बींग और बिकमिंग) दोनों ही स्वयं इसी के अपने नियमों द्वारा संचालित होते हैं, इन्हीं पर आधारित होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि दूसरे के मुकाबले में पहला उत्तर न्यायसंगति की दृष्टि से तो भ्रांतिजनक है ही, साथ-साथ में यह कभी भी सत्यापित नहीं किया जा सकता; इसकी न तो परीक्षा की जा सकती है और न सिद्धि ही। इसलिए यह उत्तर दर्शन का उत्तर नहीं हो सकता है।

कहा जाता है कि विज्ञान 'क्यों ?' का उत्तर नहीं दे सकता है। यदि विज्ञान इसका उत्तर नहीं दे सकता है, तो इसका कारण यह है कि एक तो यह प्रश्न असंगत है, न्यायविरुद्ध है और दूसरे, यह निरर्थक भी है। किसी भी सफल वैज्ञानिक जाँच-पड़ताल के लिए यह पहली और अनिवार्य शर्त होती है कि प्रश्न बोधगम्य हो, अनुभवगम्य हो, समझ में आ सके, क्योंकि प्रश्न का स्वरूप और भाव क्या है, इससे जाँच करने की स्वतन्त्रता अक्सर सीमित हो जाती है और साथ ही उसके उत्तर का स्वरूप भी पहले से ही निश्चित-सा हो जाता है। जब तक आप यह न बतलायें कि 'क्या' चीज 'क्यों' है, तब तक आपको 'क्यों ?' के उत्तर की आशा नहीं करनी चाहिए। यह प्रश्न ही अपूर्ण है, क्योंकि जाँच का स्वरूप अस्पष्ट रह जाता है। लेकिन यदि स्वरूप तथा भाषा की दृष्टि से इसे पूर्ण रूप में कहा जाय, तो अवश्य ही विज्ञान और केवल विज्ञान ही इसका उत्तर दे सकता है। यह विश्व जैसा है, वैसा क्यों है, यह हम तभी समझ सकते हैं, जब यह जान लें कि जिन चीज़ों से यह विश्व बना है, वे चीज़ें कैसे घटित होती हैं और कैसे आचरण करती हैं। रूपान्तरण, भाव्यमान या संभवन (बिकमिंग) के नियमों से किसी वस्तु की प्रकृति स्पष्ट होती है। वस्तु की प्रकृति समझने का कोई अन्य तरीका नहीं होता है। इस प्रकार, दर्शन की मौलिक समस्या अर्थात् जगत की पहेली का हल सिर्फ़ वैज्ञानिक ज्ञान की सहायता से ही निकलता है।

अनस्तित्व असम्भव

'क्यों' का प्रश्न न्यायविरुद्ध तथा असंगत है, क्योंकि इसमें एक विकल्प के रूप में 'अनस्तित्व' (नान-एक्ज़िस्टेन्स) की सम्भावना अन्तर्निहित है। अगर आप पूछें कि यह विश्व क्यों है, इसका अस्तित्व क्यों है, तो इसका मतलब यह होता है कि इसका होना कोई आवश्यक नहीं था। ऐसी स्थिति में, कम से कम परिकल्पना के रूप में ही सही, 'अनस्तित्व' अथवा 'असत्' की, एक वास्तविक, एक असली स्थिति के रूप में, कल्पना करनी पड़ती है। लेकिन अस्तित्ववान मन (एक्ज़िस्टेन्ट माइन्ड) 'अनस्तित्व' की कल्पना कर ही नहीं सकता है। इसके विपरीत, अगर यह प्रश्न किया जाय कि यह विश्व ऐसा इस प्रकार का क्यों है, तो यह बिलकुल भिन्न बात होगी। इस रूप में प्रतिपादित करके प्रश्न का निहितार्थ (इम्प्लीकेशन) यह होगा कि यह विश्व और प्रकार का भी हो सकता था। इस स्थिति में, बिना साफ़-साफ़ कहे भी जिस वैकल्पिक सम्भावना को मान लिया गया है, वह 'अनस्तित्व' नहीं है, बल्कि 'किसी और तरह का अस्तित्व' है। इस नये रूप में, प्रश्न का उत्तर विज्ञान द्वारा दिया जा सकता है, और दिया भी गया है जिसमें यह सिद्ध किया गया है कि विश्व ऐसा इसलिए है क्योंकि यह स्वयं अपने में अन्तर्भूत नियमों का परिणाम है, क्योंकि इसके स्वयं अपने भाव (बींग), अपने अस्तित्व के नियम इसे किसी और तरह का बनने नहीं देते। प्रामाणिक रूप से यह बतला दिया गया है कि विश्व जैसा है, वैसा क्यों है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि इसके अस्तित्व के किसी अन्य रूप की सम्भावना ही नहीं है—अर्थात् विश्व का, वर्तमान से भिन्न, कोई और रूप भी हो सकता था। अगर इसके भाव, इसके अस्तित्व के नियम भिन्न होते, तो यह विश्व भी भिन्न या भिन्न प्रकार का होता।

यद्यपि विश्व के किसी और भिन्न प्रकार के होने की सम्भावना से तो इन्कार नहीं किया जा सकता है, लेकिन फिर भी प्रकृति के सामान्य नियमों के भिन्न हो सकने का प्रश्न, जैसा कि फ्रांसीसी विद्वान हेनरी प्वान्करी ने सिद्ध किया है, निरर्थक है—क्योंकि जिन प्राकृतिक नियमों को हम आज

एकदम मूल और आधारभूत मानते हैं, उन्हीं नियमों को अपेक्षतः अधिक सामान्य नियमों पर आधारित पाया जा सकता है। प्रकृति के नियम जिस भौतिक सत्ता को संचालित-परिचालित करते हैं, उससे अलग या स्वतन्त्र नहीं होते हैं। कहीं पर भी उनका अपना बिल्कुल स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं पाया जाता है। उनके अस्तित्व को भौतिक सत्ता अथवा भाव (बींग) से किसी हालत में भी अलग नहीं किया जा सकता। एक अर्थ में, ये नियम इस भौतिक सत्ता के ही गुण-धर्म होते हैं और इसी के माध्यम से उनकी अभिव्यक्ति होती है।

आधुनिक भौतिक अध्ययन-अनुसंधानों ने इसका पता लगा लिया है कि भौतिक सत्ता की तरह-तरह की बदलती हुई अवस्थाएँ प्राकृतिक नियमों के कुछ निश्चित विशिष्ट रूपों से सम्बन्धित रहती हैं। यद्यपि अभी पूरी तौर से ऐसा किया नहीं जा सका है, फिर भी, इस सम्पूर्ण भौतिक सत्ता अर्थात विश्व या जगत की तमाम भिन्न-भिन्न स्थितियों एवं घटनाओं के लिए सिर्फ़ एक या कुछ इने-गिने सामान्य नियमों का पता लगाया जा सकता है। इसी प्रकार तमाम स्थिर-अस्थिर, चिर-परिवर्ती भौतिक स्थितियों अथवा रूपों का भी विश्लेषण कर-कर के किसी एक 'आरम्भिक सामान्य स्थिति' का पता लगा सकते हैं और हो सकता है कि जिसे आज 'आरम्भिक साधारण स्थिति' समझा जाता है, वही कल बहुत सी और भी अधिक आरम्भिक इकाइयों का एक जटिल संयोग निकले। प्राकृतिक नियमों और भौतिक सत्ता के बीच का कारणात्मक (काज़ल) सम्बन्ध वास्तव में अन्योन्य अर्थात पारस्परिक होता है। अतः इस विश्व अथवा ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया की कारणात्मक श्रृंखला के स्रोत का पता लगाने के लिए हमें विश्व या ब्रह्माण्ड से बाहर जाने—किसी पराभौतिक या अभौतिक मूल कारण ढूंढने—की कोई आवश्यकता नहीं है।

यह विश्व किसी और प्रकार का हो सकता था या नहीं, इस प्रश्न का केवल क्षणिक अर्थ है और यह विश्व स्वय ही इसका उत्तर दे देता है, जो कि 'हाँ' में है। प्रत्येक क्षण में एक भिन्न ही विश्व होता है और एक ही क्षण में कई प्रकार के अर्थात कई विश्वों की विविधता तथा बहुलता रहती है। इन असंख्य, सम्भव ही नहीं बल्कि वास्तविक एवं यथार्थ, विश्वों में से

प्रत्येक के भाव, रूप, अस्तित्व (बींग) और संभवन, रूपान्तरण (बिकमिंग) का संचालन करने वाले प्राकृतिक नियमों की एक विशिष्ट व्यवस्था होती है। विवेकी या तर्कबुद्धिवादी ईश्वर-मीमांसा अथवा धर्मशास्त्र मानता है कि ईश्वर ने विश्व की सृष्टि नहीं की है; यह एक स्वचलित यांत्रिक क्रियाविधि है; ईश्वर का काम यह तय करना होता है कि असंख्य विश्वों में से किसे वास्तविक विश्व होना या बनना चाहिए। चूंकि विश्वों की विविधता तथा बहुलता निरी पराभौतिक या अभौतिक सम्भावना मात्र नहीं है, बल्कि देश-काल में स्थित वास्तविक या यथार्थ है, इसलिए इस चयन-कार्य के लिए भी ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं रह गयी है।

दर्शन की मुक्ति

सृष्टि की धारणा खत्म हो जाने पर दर्शन की एक सब से पुरानी समस्या—विश्व की उत्पत्ति अकस्मात हुई या आवश्यकतावश—भी खत्म हो जाती है। इस भौतिक विश्व के अनादि होने के कारण—जैसा कि विज्ञान सिद्ध करता है—उसके उद्गम अथवा आदि-स्रोत का प्रश्न ही नहीं उठता है। यदि यह प्रश्न, कि विश्व का आरम्भ कैसे हुआ, अप्रासंगिक है, तो यह पूछना कि यह क्यों है, और भी अधिक अप्रासंगिक है। विश्व है, क्योंकि वह नित्य और सनातन है। वास्तविकता तो यह है कि 'विश्व क्यों है ?' का प्रश्न प्रत्यक्षत: निरर्थक और बेतुका है।

सफल दार्शनिक अनुसन्धान के लिए सबसे पहली शर्त यह होनी चाहिए कि प्रश्न बोधगम्य और उपयुक्त रूप में पेश किया जाय, अर्थात् 'विश्व ऐसा या इस प्रकार का क्यों है ?' दर्शन इसका उत्तर वैज्ञानिक आधार पर ही दे सकता है। विश्व के भीतर की तमाम चीजें कैसे घटित होती हैं, इसका ज्ञान हमें इस योग्य बना देता है कि यह विश्व जैसा है, वैसा क्यों है, इसकी भी व्याख्या कर सकें। यही ज्ञान हमें नित्यता, सनातनता, अनन्तता, अमरता आदि पुरानी परम्परागत दार्शनिक धारणाओं को एक नये ढंग से नयी

रोशनी में देखने-समझने के योग्य बनाता है। आधुनिक वैज्ञानिक खोजों ने इन आदरणीय धारणाओं के भीतर ठोस वास्तविकता भर दी है। हमें यह न भूलना चाहिए कि ईश्वर पर विश्वास करने की आवश्यकता को खत्म करने के साथ-साथ आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान उन धारणाओं को भी मानवीय बुद्धि तथा समझ का विषय बना देता है, जिन्हें परम्परा से किसी न किसी प्रकृति से परे की आध्यात्मिक सत्ता से जोड़ दिया जाता रहा है।

धर्म और संस्कृति

मानव-विकास के इतिहास में काफ़ी लम्बे समय तक संस्कृति (कल्चर) और धर्म (रिलीजन) में घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। यदि प्रकृतिपारीण (सुपरनेचुरल) और मानवपारीण (सुपरह्यूमन) शक्ति पर विश्वास को हम धर्म की परिभाषा मान लें, तो हम बड़ी आसानी से यह सोच सकते हैं कि एक उन्नत तथा उच्च सांस्कृतिक अवस्था को क़ायम रखने और उत्तरोत्तर उच्च अवस्थाओं को पहुँचते रहने की योग्यता प्राप्त करने के लिए धर्म किस प्रकार अनावश्यक है। संस्कृति के विषय में सामान्य रूप से जो प्रचलित धारणा है, उसके अनुसार यह समझना बड़ा कठिन है कि बिना धर्म के भी संस्कृति सम्भव है। चूंकि काफ़ी लम्बे समय तक धर्म से सम्बद्ध रहने के कारण यह धारणा बनी है, इसलिए ऐसा विश्वास किया जाने लगा है कि संस्कृति और धर्म को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। अतः धर्म और संस्कृति के परस्पर सम्बन्ध पर सफल विचार करने के लिए यह आवश्यक है कि संस्कृति की एक सर्वमान्य परिभाषा कर ली जाय।

धर्म बनाम नैतिकता

लेकिन यहीं पर वैज्ञानिक इतिहासकार के सम्मुख एक पूर्वाग्रह (प्रेजुडिस) उठ खड़ा होता है। यहाँ 'पूर्वाग्रह' शब्द का प्रयोग किसी दूषित भावना से नहीं, वर्णनात्मक उद्देश्य से किया जा रहा है, इसमें कोई नैतिक मान्यता अथवा निर्णय की गतार्थता नहीं है। पूर्वाग्रह का मतलब यहाँ पर सिर्फ़ एक ऐसी परिकल्पना (हाईपोथीसिस) से है जो ऐसे प्रमाणों पर आधारित हो, जिनका या तो अब औचित्य अथवा प्रामाणिकता ही समाप्त हो चुकी हो या फिर जो न्यायसंगत नहीं रह गये हों, क्योंकि कुछ अन्य ऐसे प्रमाण-

-आधार मिल गये हों, जिन्हें ध्यान में रखना आवश्यक हो गया हो। यदि हमारी कोई पहले की धारणा अथवा प्रतिज्ञा या स्थापना ऐसी है जिसमें अब नये प्रमाणों के आधार पर संशोधन किया जा सकता है अथवा जिसका झूठापन दिखलाकर उसे पूर्णतया रद्द किया जा सकता है, तो वह पूर्वाग्रह एक वैज्ञानिक परिकल्पना की कोटि का होगा। लेकिन इसके विरुद्ध अक्सर होता यह है कि परिकल्पित धारणाएँ अथवा ग़लत स्थापनाएँ अपनी जड़ता तथा दृढ़ता के कारण ऐसे पूर्वाग्रह का रूप ले लेती हैं जो आगे चलकर अन्धविश्वास बन जाती हैं और इस रूप में उनका अन्त बड़ी मुश्किल से होता है। धर्म और संस्कृति के इतिहास तथा दोनों के परस्पर-सम्बन्ध की सार्थक जाँच करने से पहले हमें इस प्रकार के पूर्वाग्रहों अर्थात् जड़ परिकल्पनाओं से पिंड से छुड़ा लेना चाहिए।

यदि हम संस्कृति की यह परिभाषा करें कि मानव जाति को निम्न श्रेणी के पशुओं से भिन्न करने वाली संवेगात्मक शक्तियों, मानसिक प्रयासों तथा शारीरिक व्यवहारों के विकास को संस्कृति कहते हैं, तो हमारी कठिनाई हल हो जाती है। यदि इस परिभाषा को हम दूसरे शब्दों में कहें तो उसे आम तौर पर सभी को मान लेना चाहिए कि धर्म द्वारा निर्देशित उन सद्गुणों को ग्रहण करने को संस्कृति कहते हैं जिन्हें शिवत्व (गुडनेस) की एक अकेली धारणा के अन्तर्गत रखा जाता है। इस प्रकार ज्ञात होगा कि संस्कृति एक नैतिक धारणा है; सही-ग़लत, अच्छे-बुरे के बीच पहचान करने की क्षमता अथवा योग्यता है।

यदि इसी विश्लेषण-क्रम को हम कुछ और आगे बढ़ायें, तो हमारा असली विषय और अधिक स्पष्ट हो जायेगा। एक ओर संस्कृति का सार है नैतिक भाव और दूसरी ओर संस्कृति का स्रोत है धर्म। फलतः धर्म के बिना नैतिकता असम्भव है। इस प्रकार धर्म और संस्कृति का परस्पर सम्बन्ध धर्म और नैतिकता के परस्पर सम्बन्ध से बिल्कुल मिल जाता है। अब अगर यह मान लिया जाय कि केवल धार्मिक व्यक्ति ही नैतिक आचरण का हो सकता है, तो फिर इसका न्यायसंगत निष्कर्ष यह होगा कि संस्कृति और

धर्म के बीच एक अटूट सम्बन्ध है। यद्यपि इस निष्कर्ष को न्याय, दर्शन तथा मनोविज्ञान के तरीकों से ग़लत सिद्ध किया जा सकता है, फिर भी शायद धर्म के इतिहास को सामने करके अधिक संतोषजनक उत्तर दिया जा सकता है। चूंकि संस्कृति तथा नैतिकता दोनों का स्रोत एक ही बतलाया गया है, इसलिए उस स्रोत से ही आरम्भ करना उचित होगा। यहां पर फिर हमें धर्म की एक सर्वमान्य परिभाषा कर लेनी चाहिए। 'धर्म जीवन का एक तरीक़ा है,' यह कहना तो केवल पुनरुक्ति है, क्योंकि यह तो वही कहना हुआ कि धर्म संस्कृति है। यदि दोनों चीजें एक ही और वही हैं तो फिर दोनों के परस्पर सम्बन्ध के कोई अर्थ ही नहीं रह जाते और हमारा बहस करना बेकार हो जाता है। इस परिभाषा का तो यह मतलब हुआ कि एक व्यक्ति प्रकृति-पारीण अथवा अलौकिक शक्ति पर विश्वास किये बिना भी धार्मिक हो सकता है।

भाषा तथा विचार

यदि धर्म को प्रकृतिपारीण सत्य और अतीन्द्रिय (सुपर-सेन्सुअल रियलिटी) मूलत्व के विश्वास से अलग किया जा सके, तो अवश्य ही उसका संस्कृति तथा नैतिकता से तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है। लेकिन इस प्रकार के मनमाने पृथक्करण के विरोध का एक गम्भीर कारण है। वह कारण हमें भाषा के इतिहास में मिलता है, जोकि मानवीय चिंतन के इतिहास के समानान्तर चलता है। अपने विचारों (प्रत्ययों--आइडियाज़) को व्यक्त करने के साधन के रूप में ही मानव ने भाषा को जन्म दिया। हमारा प्रत्येक शब्द किसी न किसी विचार का प्रतीक होता है। किसी एक ही विचार अथवा प्रत्यय के विभिन्न रूपों अथवा भावों को व्यक्त करने के लिए अनेक शब्द गढ़ने का रिवाज तो बहुत बाद में अभी थोड़े ही समय से चालू हुआ है। धर्म या 'रिलीजन' या इसी तरह के भाव को प्रकट करने वाला किसी भी भाषा का पर्याय बहुत पुराना शब्द है। इसका एक विशेष अर्थ होता था। यह किसी ऐसी धारणा या विचार का प्रतीक नहीं हो सकता, जिसका उदय तथा विकास विचारों के इतिहास में आगे चलकर

बहुत दिन बाद हुआ हो। उस पुराने काल में ऐसी बहुत-सी धार्मिक क्रियाएँ तथा रीति-रिवाज प्रचलित थे, जिन्हें आगे चलकर भविष्य में उच्च, उन्नत तथा विकसित संस्कृति और नैतिकता में अत्यन्त निन्दनीय समझा जाने लगा था। विचारों तथा भाषा का इतिहास हमें ऐसी मनमानी परिभाषा करने की अनुमति नहीं देता कि धर्म एक सामान्य जीवन-दर्शन अथवा जीवन-शैली है और वह ईश्वर, प्रधान चालक, प्रधान नियामक, मूल नियंता या सर्वप्रथम (मूल) सिद्धांत अथवा सर्वप्रथम (मूल) कारण के रचयिता के विश्वास पर आधारित नही है। यदि ऐसा होता, तो धर्म की धारणा पर इतना ज़ोर देने की कोई आवश्यकता ही न पड़ती।

एक वैज्ञानिक परिकल्पना

धर्म का सार जब तक एक पूर्वाग्रह के रूप में जड़ नहीं हुआ था, तब तक उसका रूप वैसा ही था जैसा किसी भी वैज्ञानिक परिकल्पना का होता है। आधुनिक मानवशास्त्र की खोज सिद्ध करती है कि मानव-जीवन का मौलिक आग्रह किसी चीज पर एकदम विश्वास कर लेना नहीं, बल्कि उस पर शंका और प्रश्न करना है। दूसरे शब्दों में इसी को यूं कहा जा सकता है कि आरम्भ के मूल रूप में मनुष्य धार्मिक नहीं था। अतः मनुष्य के सांस्कृतिक तथा नैतिक जीवन का आधार धर्म नहीं हो सकता।

लेकिन इसके साथ-साथ यह भी एक ऐतिहासिक सत्य है कि धर्म का उद्भव भी मनुष्य की मौलिक जिज्ञासा-भावना—प्राकृतिक वातावरण के कारणों तथा गतिविधियों के विषय में अनेकानेक परिकल्पनाओं के सामान्यीकरण--के ही फलस्वरूप हुआ था। अतः मानव-चिन्तन के इतिहास और मानव के आध्यात्मिक विकास में धर्म का एक महत्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि यह तमाम सांस्कृतिक तथा नैतिक विकास का कुल जोड़ या योगफल है। अन्यथा धर्म का इतिहास ही नहीं हो सकता था।

एक कट्टर पूर्वाग्रह

धर्म की उपर्युक्त उत्पत्ति समझ लेने पर यह मानना न्यायसंगत होगा कि जिस कारण से उसका जन्म हुआ था, उसके धीरे-धीरे खत्म होने के

साथ-साथ एक 'आध्यात्मिक' या बौद्धिक आवश्यकता के रूप में स्वयं धर्म भी खत्म होता जायेगा और लोग एपीक्यूरियन (या चार्वाकी सुखवादी) आदर्श के अनुसार सद्गुणी बनने के योग्य स्वयं हो जायेंगे— इसलिए नहीं कि उन्हें ऐसा बनना ही चाहिए, बल्कि इसलिए कि ऐसा बनने से सुख, आनन्द और संतोष मिलता है। इस प्रकार जब धर्म की कोई आध्यात्मिक या बौद्धिक आवश्यकता ही नहीं रह जाती और वह एक हठ, पूर्वाग्रह, मानसिक आदत अथवा मनोवैज्ञानिक ग्रंथि के रूप में लड़खड़ाने लगता है, तब उसे ऐसी परिभाषाओं के द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है जो न्याय या तर्क की दृष्टि से असंगत और इतिहास की दृष्टि से ग़लत होती हैं। लेकिन किसी हठ अथवा पूर्वाग्रह का इस प्रकार का न्यायाभास या तर्काभास (रेशनलाइज़ेशन) कड़ी जाँच और परीक्षात्मक आलोचना के सामने नहीं टिक सकता है। इस तर्काभास के द्वारा प्रकृतिपारीण पर विश्वास भले ही छोड़ दिया जाय, लेकिन संस्कृति का आधार और नैतिकता का स्रोत क्रमशः परम्परा और अन्तर्ज्ञान (इन्ट्यूशन) में ढूंढा जाता है। एक ओर परम्परा को किसी ऐसे मूल्य पर आधारित करके, जो उसे पुनीत तथा पावन बना दे और दूसरी ओर अन्तर्ज्ञान की ऐसी दुहाई देकर, जो कि एक शारीरिक या जैविक गुण को रहस्य बना दे, सत्य और वास्तविकता के किसी अतीन्द्रिय तथा अलौकिक स्रोत के प्रति कृत्रिम तथा छलपूर्ण विश्वास उत्पन्न किया जाता है।

स्वयं अपने गुणों के बल पर ईश्वर, रचयिता अथवा विश्व-चेतना आदि पर विश्वास के रूप में मानव-विकास के इतिहास में धर्म का एक स्थान है। यद्यपि मानव-जाति के इतिहास में इसकी एक सामयिक अथवा अल्पकालीन स्थिति थी, फिर भी इसका अंत अभी तक नहीं दिखलायी दे रहा है। अभी तक ऐसा एक भी सम्प्रदाय नहीं है, जो सामूहिक रूप से बौद्धिक विकास की ऐसी उच्च अवस्था को पहुंच गया हो, जहाँ के जीवन में धर्म को कोई स्थान प्राप्त न हो। और जब तक मनुष्य के मस्तिष्क में, मन में 'विश्वास करने' की जड़—चाहे अज्ञानवश, चाहे पूर्वाग्रहवश--जमी रहेगी,

तब तक कृत्रिम उपायों से भी इसे नष्ट नहीं किया जा सकता है, जैसा कि रूस तथा अन्य कम्युनिस्ट देशों में किया गया। प्रकृतिपारीण पर से लड़खड़ाते हुए विश्वास को हटाने के लिए मानव-मन के भीतर के एक-एक कोने को भौतिक अर्थात् प्रकृति के ज्ञान से आलोकित करना पड़ेगा--यद्यपि इसमें कोई शक नहीं कि इसका उपक्रम बड़ा लम्बा होगा। पूर्वाग्रह अथवा मानसिक हठ बड़ी मुश्किल से हटते हैं--बड़े-बड़े विज्ञानियों तक में। लेकिन जो इने-गिने कुछ ऐसे स्त्री-पुरुष हैं, जिन्हें अब तर्काभासित रूप में भी धर्म की कोई आवश्यकता नहीं रह गयी है, वे उन उड़ते हुए तिनकों की तरह हैं, जिनसे हवा का रुख जाना जा सकता है।

प्राकृत धर्म की विशिष्टता

धर्म की वर्तमान तथा भावी स्थिति के विषय में उपर्युक्त दृष्टिकोण रखकर इतिहास का विद्यार्थी सस्कृति एवं धर्म के परस्पर सम्बन्ध पर मत निश्चित करने के लिए धर्म के अतीत का अध्ययन कर सकता है। धर्म का इतिहास दो प्रमुख भागों में विभाजित है—एक है प्राकृत या प्राकृतिक धर्म और दूसरा उद्घाटित या इलहामी अथवा दैवी धर्म। यद्यपि अभी कुछ ही समय पूर्व तक इक्के-दुक्के अपवादों को छोड़कर, इलहामी धर्मों का संस्कृति से काफ़ी घनिष्ट सम्बन्ध रहा है और इनकी संख्या भी बढ़कर एक विशिष्ट अल्पसंख्यक पक्ष का रूप ले चुकी है, जिसका समाज के सामान्य विकास पर काफ़ी प्रभाव पड़ सकता है और पड़ेगा। फिर भी संस्कृति का निकटतम ही नहीं, बल्कि तादात्म्य अथवा अभिन्नता का सम्बन्ध प्राकृत धर्म से रहा है। इसका कारण यह था कि प्राकृत धर्म सही अर्थ में धर्म होता ही नहीं। चूंकि धर्म प्रकृतिपारीण अर्थात् प्रकृति से परे पर आधारित होता है, इसलिए प्राकृत धर्म एक भ्रामक वाक्यांश है। प्राकृत धर्म न तो इस पर विश्वास करता था कि ईश्वर ने विश्व की रचना की है और न विश्व के आरम्भ या आदि के विषय में इसी प्रकार के किसी मत पर। प्राकृत धर्म तो स्वयं देवों की रचना करता था। प्राकृत धर्म ही तमाम काव्यों तथा कलाओं का

प्रेरक स्रोत था, जो कि संस्कृति के प्रकट अथवा व्यक्त रूप हैं। कला का उद्भव कल्पना से होता है, प्रकृति की नक़ल करने से नहीं। मनुष्य की कल्पना-शक्ति के द्वारा ही प्राकृत धर्म ने देवों की रचना की और फिर कल्पना के ही द्वारा प्रकृति के अनेकानेक शासकों के रूप में उन्हें सिंहासनारूढ़ कर दिया।

प्राकृत धर्म ने, जिसे वास्तव में आदिम प्रकृतिवाद कहा जाना चाहिए, सिर्फ़ कला की प्रेरणा ही नहीं दी, बल्कि ऐतिहासिक दृष्टि से यह मनुष्य की नैसर्गिक विवेकशीलता अथवा जन्मजात प्रज्ञा की सहज-स्वाभाविक अभिव्यक्ति भी थी। और इस अभिव्यक्ति का मूल मनुष्य की वह सहज-स्वाभाविक प्रवृत्ति थी जो उसे शारीरिक विकास से विरासत में मिली थी, जो सम्पूर्ण अतीत की थाती थी। इसका अभिप्राय था कि शून्य से किसी चीज़ की रचना नहीं हो सकती है। 'कुछ नहीं' से 'कुछ' नहीं बन सकता, 'कुछ' नहीं हो सकता—अर्थात् प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक घटना, प्रत्येक स्थिति और प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण होता है। मानव-जाति के आदिम पूर्वजों ने अपने अनुभवों के प्राकृतिक वातावरण के कारणों के प्रति जिज्ञासा-भाव से ही अपनी अनन्त आध्यात्मिक (बौद्धिक) प्रगति की मंज़िल पर चलना आरम्भ किया था।

विज्ञान का स्रोत भी यही है; उसका आरम्भ भी वस्तुओं, घटनाओं तथा स्थितियों के कारणों और गतिविधियों के नियमों की खोज-बीन से ही होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे आदिम तथा मौलिक पूर्वजों के प्रकृतिवाद से ही विज्ञान का भी आरम्भ हुआ था। जिज्ञासा, ज्ञान की उत्सुकता तथा खोज-बीन करने की भावना—जिसमें किसी पूर्ण अंतिमता या परम ज्ञान के लिए कोई स्थान नहीं होता है और इसीलिए आस्था या निष्ठा अमान्य होती है—हमारी मौलिक मानवीय थाती है।

लेकिन हमारे इन पूर्वजों को, जो मूलतः विज्ञानी थे, आरम्भ-काल में ही कलाकार बन जाना पड़ा, क्योंकि उनकी उत्सुकता, जिज्ञासा तथा आदिम बुद्धिवाद के फलस्वरूप जो समस्याएं उनके सम्मुख थीं, उन्हें हल करने के

लिए आवश्यक साधन या यन्त्र तो दूर रहे, मानसिक योग्यता से भी अभी वे वंचित थे। फलतः, जब वे प्राकृतिक वातावरण को पैदा करने वाले कारणों की खोज में सफल नहीं हो सके, तो स्वभावतः उन्हें कल्पना और चिंतन का सहारा लेना पड़ा और इनके द्वारा उन्होंने अपने अनुभवों तथा सीमित जानकारी के अनुसार देवी-देवताओं की कल्पना कर ली और अपने ही रूप के समान उनकी मूर्तियां गढ़ लीं। प्रकृति पर विजय पाने की मानवी आकांक्षा ने, जो अभी अव्यक्त थी, उसी के अनुसार मनुष्यों द्वारा निर्मित इन देवी-देवताओं को प्रकृति पर शासन करने का अधिकारी मान लिया।

प्रकृतिवाद और भारत

भारत में, ऐसा मालूम होता है कि संस्कृति का धर्म से अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध रहा है, क्योंकि जन-साधारण के धार्मिक जीवन में आज भी प्रकृति-पारीणवाद की अपेक्षा प्रकृतिवाद का कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत में धर्म के इतिहास का सबसे प्रमुख लक्षण यह है कि मानवीय कल्पना द्वारा उत्पन्न तथा रचित देवी-देवताओं की पूजा-आराधना होने के कारण प्रकृतिवाद पर तथाकथित इलहामी अथवा दैवी धर्मों ने कभी भी पूरी विजय प्राप्त नहीं की। इसमें कोई शक नहीं कि यहाँ बहुत से ऋषि और अवतार हुए हैं, लेकिन ऋषियों की संख्या इतनी अधिक रही है कि कोई भी यह दावा नहीं कर सकता था कि दैवी अथवा ईश्वरीय सत्य सिर्फ़ उसी को प्राप्त हुआ है और जहाँ तक अवतारों का सम्बन्ध है, वे तो सदा मानवीय रूप में ही हुए।

इन कारणों से हम देखते हैं कि कुछ निश्चित या पक्के सिद्धांतों पर सामूहिक रूप से विश्वास करने के अर्थों में भारत में कभी भी धर्म की प्रधानता नहीं रही और आस्था-निष्ठा के आधार की इस कमज़ोरी के ही कारण मध्य-काल में जबकि मसीही (ईसाई) और इस्लाम धर्म अपने-अपने निश्चित एवं पक्के सिद्धांतों के बल पर मैदान में आ डटे, तो भारत में तर्काभास करने की आवश्यकता महसूस की गयी। फलतः यद्यपि समाज के उच्चवर्ग में धर्म का स्थान ईश्वर-मीमांसा अर्थात् धर्मशास्त्र ने ले लिया,

लेकिन अधिकतर जन-साधारण में अनुष्ठानी रूप ले लेने के बावजूद प्रकृतिवाद कभी भी एक संघटित धर्म की भाँति कठोर और कट्टर नहीं बन सका।

चूंकि भारत में सुसंघटित मठ-व्यवस्था के रूप में धर्म नहीं रहा, इसलिए काफ़ी सीमा तक धार्मिक स्वतन्त्रता रही है। और इस स्वतन्त्रता का ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक महत्त्व इसी से स्पष्ट है कि जन-साधारण के जीवन में प्रकृतिवाद का प्रभाव आज तक बराबर बना हुआ है। वेदों के मौलिक प्राकृत धर्म पर तो अब कोई व्यवहार नहीं करता है; फिर भी आज की पुनरुत्थानवादी राष्ट्रीयता के वातावरण में भूले हुए वैदिक धार्मिक अनुष्ठानों और कर्मकाण्डों को फिर से जगाने और व्यवहार में लाने के लिए प्रचार तथा प्रयत्न किये जा रहे हैं। लेकिन कुछ पिछड़े हुए व्यापारी तथा पुरोहित वर्ग के सीमित सामाजिक क्षेत्र को छोड़कर उन प्रयत्नों का कोई व्यापक प्रभाव नहीं हो रहा है। ९० प्रतिशत लोग तो इतने ग़रीब हैं कि घी और अन्न अग्नि की भेंट कर ही नहीं सकते हैं और दूसरी ओर, जिनके पास धन और कुछ शिक्षा भी है, उन्हें इन चीज़ों को जलाना या लालची पुरोहितों को देना रुचिकर नहीं लगता। वैदिक प्राकृत धर्म के पतन के बाद जो ईश्वर-मीमांसा-सम्बन्धी चिंतन आरम्भ हुआ और बाद में जिसे हिन्दू धर्म कहा जाने लगा, वह केवल एक अभिजात वर्ग तक ही सीमित रहा। इसके मुक़ाबले में जन-साधारण में पौराणिक कहानियाँ, आख्यान और लोकगीत आदि एक नये धर्म के आधार-स्तम्भ बन गये। वेदों के बलिष्ठ तथा कठोर देवतागण महाकाव्यों और पुराणों में फिर से दिखलायी देने लगे। लेकिन अब उनकी संख्या भी काफ़ी लम्बी चौड़ी थी और रंग-रूप में भी वे काफ़ी रोचक और आकर्षक थे। महाकाव्यों के नायक और नायिकाओं की भाँति पुराणों के देवी-देवताओं की रचना भी आदिम असंस्कृत लोगों ने भयभीत होकर नहीं की थी, बल्कि उनकी उत्पत्ति कलाकारों की कल्पना-शक्ति से हुई थी। साधारण जनता के लोकप्रिय सार्वजनिक धर्म में अब भी प्रकृतिवाद का काफ़ी अंश था और इस प्रकार उसने संस्कृति के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण रिक्त स्थान की पूर्ति की।

भारतीय संस्कृति और धर्म

मध्यकालीन सामाजिक विघटन और तत्सम्बन्धी संस्कृति के पतन के कारण ब्राह्मणों के परम्परागत बुद्धिजीवी अभिजात वर्ग ने आधुनिक काल में अपनी पुरानी शान तथा मर्यादा खो दी। मध्यकाल के अंत में तत्कालीन अज्ञानता के वातावरण में पुराणों के धर्म का भी पतन हो गया और अनेक प्रकार के गन्दे तथा अरुचिकर पंथ अथवा सम्प्रदाय बनने लगे। इसके साथ-साथ देश के विभिन्न भागों में ऐसे बहुत-से धार्मिक सुधारक हुए जिनका भक्तिवाद काफ़ी व्यापक, लोकप्रिय तथा आकर्षक था। अन्त में आधुनिक काल में ब्राह्मणों का स्थान लेने वाले नये बौद्धिक अभिजात वर्ग ने हिन्दुओं के धर्म के रूप में गीता तथा वेदांत के ईश्वर-मीमांसा-सम्बन्धी चिंतन के उपदेशात्मक अंशों को पुनर्जीवित किया; महाकाव्य के अतिव्यापक प्रसंग से अलग करके अब गीता को हिन्दू धर्म का वेद अर्थात् दैवी ग्रंथ माना जाने लगा ! लेकिन वास्तविकता यह है कि जन-साधारण में महाभारत की कथाएँ ही अधिक प्रचलित तथा लोकप्रिय हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि भारतीय जनता की रग-रग में अब भी प्रकृतिवादी संस्कृति बसी हुई है और प्रकृति-पारीणवाद अथवा रहस्यवाद का प्रभाव केवल ऊपर-ऊपर ही है।

जहाँ तक जन-साधारण का सम्बन्ध है, उनके पैर आज भी धरती में जमे हुए हैं। वे आज भी लोकप्रिय, संस्कृतिविहीन तथा तर्काभासित प्रकृति-पारीणवाद के कृत्रिम वातावरण की अपेक्षा माँ-प्रकृति की गोद में अधिक सुख तथा संतोष अनुभव करते हैं। तोते की भाँति लोग परमात्मा का नाम भले ही रटा करें, लेकिन यह मात्र आदत है, इससे अधिक कुछ नहीं। ऐसे देवी-देवता या भगवान से उन्हें कोई लाभ नहीं, कोई सरोकार नहीं, जो मानवीय अर्थात् इन्द्रिय-जन्य अनुभवों से परे हो, उनका सीमोल्लंघन करता हो। उनका देवता मानवतारोपी, मानव-सम्वादी (ऐन्थ्रोपोमॉर्फ़िक) होता है, मानवतुल्य होता है और प्रकृति के प्रति उनका दृष्टिकोण सर्वात्मवादी, सर्वसजीववादी (ऐनिमिस्टिक) होता है। मानवतारोप (ऐन्थ्रोपोमार्फ़िज्म) और सर्वसजीववाद (एनिमिज्म) भारतीय जनता की प्रकृतिवादी आस्था-

निष्ठा के उद्भव तथा विकास के दो मुख्य आधार-स्तम्भ हैं। इस जीवन्त निष्ठा के उद्भव तथा विकास का श्रेय उन कवियों को है, जिन्होंने महाकाव्य रचे थे और उन कलाकारों को है जिन्होने अपनी कल्पना-शक्ति के द्वारा ऐसे असंख्य वैभवशाली देवी-देवताओं की रचना की जिनमें मानव-तुल्य सद्गुण-दुर्गुण दोनों थे, जो मानबीय अनुभवों के सवेगों से प्रभावित होते थे, जो तत्कालीन सर्वश्रेष्ठ मानवीय आकांक्षाओं की प्रतिमूर्ति थे।

पूजा करने के लिए, बल्कि इससे भी अधिक सार्वजनिक, धार्मिक त्योहारों में देखने योग्य सुन्दर से सुन्दर प्रदर्शनीय मूर्तियों की रचना ही तो मानवतारोप या मानव-सम्वाद की कलात्मक अभिव्यक्ति अथवा प्रत्यक्षीकरण थी। ये मूर्तियां 'प्रकृति से परे पर विश्वास' की अपेक्षा भक्त की सौन्दर्य भावना को कहीं अधिक जागृत तथा प्रभावित करती हैं। इन देवी-देवताओं की शक्ति तथा सत्ता के विषय में मानवीय कल्पना ने जादू का-सा प्रभाव डाल कर जो सर्वसजीववादी पूर्वाग्रह उत्पन्न किया था, वही तो इनकी पूजा--आराधना करने के मनोवेग का स्रोत है।

दुर्गा पूजा

भारत के जन-साधारण में प्रचलित सामन्य लोकप्रिय धर्म के इन विशेष लक्षणों की सर्वाधिक प्रतिष्ठित अभिव्यक्ति हमें दुर्गा-पूजा में दिखायी देती है। तमाम जनता--निम्न से निम्न और उच्च से उच्च—इस समारोह में भाग लेती है, जोकि एक धार्मिक अनुष्ठान से कहीं अधिक एक सार्वजनिक लोकप्रिय त्योहार है। दुर्भाग्य की बात है कि अब कुछ समय से इस लोकप्रिय त्योहार का वैभव कम होता जा रहा है। लेकिन फिर भी किसी अन्य आकर्षण की अपेक्षा यह त्योहार लोगों की भावनाओं तथा संवेगों को सर्वाधिक उत्तेजित कर देता है। स्पष्टतः, यहां पर हमें उस घनिष्ट सम्बन्ध का जीता-जागता उदाहरण मिलता है, जो एक जनवादी या जनतांत्रिक संस्कृति या मानवतारोपी एव सर्वसजीववादी विश्वास के बीच होता है। यहां पर प्रकृतिपारीणतावाद के ऊपर प्रकृतिवाद पूरी तरह से हावी है। बड़े-बड़े देवता असुरों के विरुद्ध अपने स्वर्गस्थ प्रासादों की रक्षा करने में

असमर्थ हैं और मां-प्रकृति की ब्रह्माण्डीय ऊर्जा या ऊर्जस्विता अर्थात विश्व-शक्ति (कॉस्मिक एनर्जी) की स्तुति करते हैं, उसका आह्वान करते हैं। मां-प्रकृति की इसी ऊर्जस्विता को मानव की कलात्मक प्रतिभा ने देवी दुर्गा के रूप में चित्रित किया है।

आधुनिक विज्ञान ने प्रयोगों से यह खोज निकाला है कि इस भौतिक जगत में ऊर्जा अर्थात शक्ति का अनन्त तथा अथाह भंडार है। पदार्थ, पुद्गल, भूत अर्थात द्रव्य (मैटर) और ऊर्जा की परस्पर अभिन्नता से संबंधित, विज्ञान के सैद्धांतिक ज्ञान की परिकल्पना उस अज्ञात कलाकार ने की थी, जिसने ब्रह्माण्डीय ऊर्जस्विता की धारणा को एक ठोस और साकार रूप दिया था। और एक मानवतारोपी एवं सर्वसजीववादी विश्वास को कलात्मक रूप देने का सबसे बड़ा सांस्कृतिक महत्व यह है कि इन रूपों की रचना कुछ ऐसे इने-गिने व्यक्तियों ने नहीं की थी, जो किसी असाधारण अनिर्वचनीय शत-प्रति-शत निजी, व्यक्तिगत अनुभवों अथवा अनुभूतियों का दावा करें। इनकी रचना में तो सम्पूर्ण समाज भाग लेता था। यही कारण है कि प्राकृत धर्म के विषयों, पात्रों तथा रूपों के रचयिता सदा अज्ञात और अनामी रहे। अपने विश्वासों और आकांक्षाओं को व्यक्त करने के लिए कलात्मक रचना के कार्य में पूरा समाज सहयोग करे—यह चीज काफ़ी विकसित तथा उन्नत सांस्कृतिक अवस्था में ही सम्भव है और चूंकि प्राकृत धर्म के त्योहार तथा समारोह सार्वजनिक अथवा सार्वजनीन संस्कृति के ही विभिन्न रूप हैं, इसीलिए अपनी सामान्य थाती, अपने सामान्य पैतृक अधिकार का आनन्द भोगने के लिए सम्पूर्ण समाज उनमें भाग लेता है।

प्राकृत धर्म की इस मानवतारोपी तथा सर्वसजीववादी आस्था-निष्ठा का भी एक न एक दिन अन्त होगा। इसका अन्त तब होगा, जब विज्ञान का उद्बोधक प्रकाश मानव-मस्तिष्क के भीतर के एक-एक कोने को आलोकित कर देगा और ऐसे नये अनुभव उसकी पूरी गहराई तक पहुंच कर पुराने पूर्वाग्रहों की जड़ों पर प्रहार करेंगे। लेकिन उस आस्था-निष्ठा तथा विश्वास के अभिव्यक्त तथा संघटित रूप तब भी सांस्कृतिक थाती के रूप में बने

रहेंगे, ताकि एक नवीनतर तथा उच्चतर सस्कृति विकसित हो सके। मानवतारोपी तथा सर्वसजीववादी प्राकृत धर्म, बौद्धिक संस्कृति के अनेकानेक रूपों में सौन्दर्य-वृद्धि करने के लिए दीपावली, होली और दुर्गा-पूजा आदि सार्वजनिक तथा लोकप्रिय त्योहारों के रूप में जीवित रहेगा।

गीता के प्रभाव में आकर संस्कृति तथा इतिहास के विद्यार्थियों को चण्डी-पाठ न भूल जाना चाहिए, जिसमें मानव-कल्पना के आह्वान पर विश्व-शक्ति या ब्रह्माण्डीय ऊर्जस्विता (कॉस्मिक एनर्जी) के रणतुल्य प्रतिरूपण द्वारा स्वर्ग और देवताओं को मुक्त कराने का बड़ी ओजस्वी वीरगाथा शैली में वर्णन किया गया है--मानव की जननी (माँ प्रकृति) दुखी तथा पीड़ित देवों को मुक्त कराती है। यदि मनुष्य इस मां-प्रकृति की शक्तियों का आह्वान करता गया, एक-एक करके उन सबको खुल कर खेलने के लिए निमन्त्रित करता गया, उन पर भरोसा करता रहा, तो एक दिन माँ-प्रकृति अपनी सन्तान--मानव—को भी प्रकृतिपारीणता अर्थात् प्रकृति से परे के पूर्वाग्रहों से अवश्य ही मुक्त करायेगी।

वैज्ञानिक मानववादी कहानियों का एक मात्र संग्रह

प्रश्नोत्तर

लेखक : एस० एन० मुन्शी — मूल्य : आठ रुपया

छप रही हैं

वैज्ञानिक मानववाद

लेखक : एस० एन० मुन्शी — मूल्य : दस रुपया

विश्व-मानव मानवेन्द्रनाथ राय और उनकी विचारधारा

लेखक : स्व० मोहन सिंह सेंगर, चन्द्रोदय दीक्षित — मूल्य : दो रुपया

मनस्वी पुस्तकालय

सी—८६१, महानगर, लखनऊ—२२६००६